णाणसायर, दिल्ली
दिसम्बर, 1993

मूल भाषा में घुस-पैठ

■ डॉ. के.आर. चन्द्रा, अहमदावाद

भ. महावीर के उपदेशों की मूल अर्धमागधी भाषा हमारे ही प्रमाद के कारण कितनी बदल गयी और उसे पुनः स्थापित करने के लिए एक नवीन संस्था का गठन अनिवार्य सा बन गया है।

संसार की कोई भी भाषा अपने मूल स्वरूप में हमेशा के लिए लोगों के व्यवहार की भाषा नहीं रही है। क्षेत्र क्षेत्र के अनुसार और कालक्रम के अनुसार वह बदलती जाती है। भारत में ही प्राचीनतम काल में छान्दस् (वेदों की भाषा) लोगों की भाषा थी फिर संस्कृत के नाम से एक नयी भाषा आयी। उसी प्रकार प्राकृत भाषा भी लोकभाषा रही परंतु कालानुक्रम एवं क्षेत्र के अनुसार उसका क्रमिक विकास होता रहा–ऐतिहासिक और प्रादेशिक। इस विकास में प्राकृत भाषा ने अनेक नाम धारण किये–पालि (बौद्ध पिटकों की), मागधी (मगध देश की), अर्धमागधी (अर्ध मगध देश की, जैन आगमों की भाषा), पैशाची (उत्तर-पश्चिम भारत की/एक मान्यता के अनुसार), शौरसेनी (शूरसेन-मथुरा की), महाराष्ट्री (पश्चिम भारत की, महाराष्ट्र-गुजरात पश्चिम राजस्थान की) और फिर अपभ्रंश के रूप में सारे उत्तर भारत की बोलचाल एवं व्यवहार की जनभाषा के रूप में विकसित होती गयी और नाना रूप धारण करती गयी। इनमें से अब कोई भी भाषा भारत की बोल-चाल की भाषा नहीं रही। [illegible] परिवार की इन भाषाओं में से निकली हुई आजकल की भाषायें हैं– गुजराती, मराठी, हिन्दी, पंजाबी, सिंधी, राजस्थानी, ओरिया, असमी, बंगाली इत्यादि। इन सभी भाषाओं की अपनी अपनी विशेषताएं हैं। अतः वे एक दूसरे से अलग अलग व्यक्तित्व लिए हुए हैं। हरेक प्रदेश की भाषा की भी भिन्न भिन्न बोलियाँ हैं–जैसे राजस्थानी में–मारवाडी, बड़ी मारवाडी, मेवाडी, मेवाती, तो गुजरात में सूरती, भावनगरी, पालनपुरी, कच्छी, सोरठी, अमदावादी, इत्यादि। यह एक अटल नियम है कि बोलचाल की भाषा व्याकरण के शास्त्रीय नियमों की बेडियों में जकड़ी हुई नहीं रहती, वह हमेशा बदलती ही रहती है।

जिस प्रकार वेदों की भाषा छान्दस् के नाम से जानी जाती है जिसमें से संस्कृत भाषा का उद्भव हुआ उसी प्रकार बौद्ध धर्म की भाषा पालि रही। जैन धर्म के प्राचीनतम धर्मग्रन्थों की भाषा अर्धमागधी के नाम से प्रसिद्ध है और वह साहित्य जैन अर्धमागधी आगम के नाम से सुविख्यात है।

जिस प्रदेश में भ. महावीर ने अपने मौलिक उपदेश अर्थ-रूप में दिये थे उसी के आधार पर उसका नाम अर्धमागधी (मगध देश की, पटना, राजगृह, इत्यादि) पड़ा। गुरु-शिष्य परम्परा से मौखिक रूप में द्वादशांगी एवं अन्य आगम-ग्रंथों की

दिल्ली.

परंपरा सैंकड़ों वर्षों तक चालू रही। बीच बीच में अन्तराल से दुष्काल पड़ने के कारण पुनः पुनः आगमों..... वाचना की गयी और अन्तिम वाचना के समय पांचवीं-छटी शताब्दी पू. देवर्धिगणि ने वलभी में (एक परंपरा के अनुसार) उसे लिपिवद्ध किया।

मूल उपदेश का स्थल मगध (आजकल का विहार राज्य) था। काल-क्रम से धर्म का प्रसार वढ़ता गया और एक समय मथुरा जैन धर्म का वहुत वड़ा केन्द्र रहा तो आगे चलकर वलभी (गुजरात) जैन धर्म का केन्द्र रहा। इस क्षेत्रान्तर और कालान्तर के दरम्यान मूल भाषा में परिवर्तन आये विना नहीं रहे, मूल अर्धमागधी में प्रादेशिक रंग लगने गये। उस काल की पश्चिम भाग्न की महाराष्ट्री प्राकृत का उस पर सवसे अधिक प्रभाव पड़ा है जो हमें आगम साहित्य में स्थल-स्थल पर दृष्टिगोचर होता है। आगमों की मूल भाषा सर्वत्र अपने मौलिक रूप में नहीं वच रहने का यह एक महत्वपूर्ण कारण है तो दूसरा कारण यह भी है कि वैदिक परम्परा की तरह श्रमण परम्परा में शव्द-भाषा पर भार नहीं था जिससे वह कालक्रम और क्षेत्रान्तर के प्रभाव से वचकर मूल रूप में अपरिवर्तित वनी रहे। श्रमण परंपरा में अर्थ पर भार था। जहाँ भी मुनि वर्ग जाएं वे वहां की भाषा में भ. महावीर के उपदेश समझाएं। इस परंपरा के कारण मूल भाषा में परिवर्तन आने अनिवार्य थे। आगमों के लिपिवद्ध हो जाने के-वाद एक नया आदेश दिया गया कि उनमें किसी अक्षर, मात्रा, व्यंजन, शव्द, वाक्यांश का भी फेरफार नहीं होना चाहिए। यदि कोई फेरफार करेगा तो उसे भाषा के अतिचार का दोष लगेगा और प्रायश्चित करना पड़ेगा। इतना कड़ा नियम होने के वावजूद भी हरेक वाचना देने वाले आचार्य, हरेक पाठक और हरेक प्रतिलिपिकार के हाथ मूलभाषा कहीं पर अल्पांश में तो कहीं पर अधिकांश में वदलती ही गयी क्योंकि इन सव पर उस उस काल की वदली हुई चालू भाषा, जन-भाषा, लोक-भाषा का प्रभाव पड़ा अतः प्राचीन भाषा जाने-अनजाने वदलती ही गयी। इस परिवर्तन के प्रमाण हमें हर हस्तप्रत में चाहे वह ताडपत्र की पुरानी प्रति हो या कागज की परवर्ती काल की प्रति हो उनमें देखने को मिलते हैं। इसी कारण आगमों के जो जो संस्करण हमें उपलब्ध हो रहे हैं उन सव में भाषिक एक-रूपता नहीं है क्योंकि किसी संपादक ने अमुक हस्तप्रतों का आधार लिया तो किसी ने किसी अन्य प्रतियों का आधार लेकर सम्पादन किया। एक भी संस्करण ऐसा नहीं है जिसमें स्थल स्थल पर एक ही शव्द के एक समान पाठ मिलते हो या एक भी संस्करण दूसरे संस्करण के साथ पाठों की दृष्टि से एक-रूप हो। इतना ही नहीं परंतु मूल सूत्रों (आगम ग्रंथ) के पाठों तथा उनकी टीकाओं (प्राकृत में चूर्णि और संस्कृत में वृत्ति) के पाठों में भी अन्तर पाया जाता है। चूर्णि में प्राचीन पाठ सुरक्षित हैं तो मूल सूत्रों में उत्तरवर्ती पाठ घुस गये हैं। वृत्ति में भी ऐसा ही देखने को मिलता है। ये सव विषमताएं घर कर गयी हैं और कोई भी संपादक मात्र किसी एक ही

दिल्ली

हस्तप्रत को आदर्श मानकर उससे प्रतिवद्ध होकर सम्पादन करता है तो वह क्षतियुक्त ही होता है। आनुषंगिक अन्य साक्ष्यों का (आदर्शों, चूर्णि, टीका आदि का) सहारा लेना अनिवार्य होता है अन्यथा हरेक संपादन और हरेक संस्करण में भाषिक भेद वने ही रहेंगे। इस विषमता को दूर करने के लिए तथा मूलभाषा को प्रतिस्थापित करने के लिए एक ही उपाय है और वह यह कि मूल सूत्रों की प्रतियां, चूर्णि और टीका में जो जो पाठान्तर मिल रहे हैं उनमें से कौन सा पाठ भाषा की दृष्टि से प्राचीनतम है उसे स्वीकार किया जाना चाहिए। यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो फिर एक ही संस्करण या अलग अलग संस्करणों में भाषा की कोई विषमता नहीं रहेगी और उसकी एकरूपता आगे के नये संस्करणों में स्वतः आ जाएगी। परंतु इस कार्य के लिए प्राकृत भाषाओं का गहन ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक ज्ञान होना अनिवार्य है, मात्र हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण के अध्ययन से कार्य नहीं चलेगा जैसाकि आगम-प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी अपने 'कल्पसूत्र' की भूमिका में फरमा गये हैं। यदि हम अपने पूर्वग्रहों को नहीं छोड़ेंगे और लकीर के फकीर वने रहना चाहेंगे तो यह उद्धार का कार्य नहीं होगा। भाषिक दृष्टि से नवीन संपादन का कार्य करने से आशातना और कर्म वन्धन होने आदि की रट लगाना वस्तुस्थिति से मुँह मोड़ना होगा। एकान्त-अनेकान्त, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के परिप्रेक्ष्य में विषय की गम्भीरता पर चिंतन करना चाहिए तभी ध्रुव सत्य का उद्घाटन होगा, वास्तविकता प्रकाश में आएगी और विषय का सम्यग् वोध होगा।

भाषा सम्वन्धी थोड़े से उदाहरण देकर अव इस विषय को स्पष्ट किया जाएगा। पहले आजकल की भाषाओं के उदाहरण प्रस्तुत किए जाएंगे तत्पश्चात् जैन आगमों की अर्धमागधी भाषा के।

हर काल और हर क्षेत्र में अलग अलग भाषाएं चलती हैं। किसी एक भाषा के विशिष्ट प्रयोग दूसरी भाषा पर थोपे नहीं जाते और यदि ऐसा कर दिया जाए तो वह प्रयोग ही गलत हो जाता है। हिन्दी, गुजराती और मारवाडी अलग अलग भाषाएं हैं, उनके ही भाषा-प्रयोग देखें।

(१) हिन्दी : हम इस गांव के निवासी हैं।
गुजराती : अमे आ गामना रहेवासी छीओ।
मारवाडी : मे (म्हे) अण गांमरा रेवासी हो।

(२) हिन्दी : तेरा क्या नाम है?
गुजराती : तारुं शुं नाम छे?
मारवाडी : थारुं का नोम है?

(३) हिन्दी : मेरे लिए पानी लाओ।
गुजराती : मारा माटे पाणी लावो।
मारवाडी : मारे हारुं पोणी लावो।

(४) हिन्दी : उसे क्या करना है।

दिल्ली

गुजराती : तेणे शुं करवुं छे।
मारवाडी : उणरे कंइ करणो है।

अब इन चार वाक्यों को कोई मिश्रित भाषा में उनकी खिचड़ी बनाकर बोले या लिखे तो क्या वह किसी एक भाषा की दृष्टि से शुद्ध माना जाएगा? उदाहरणार्थ–

(१) हम आ गामना रेवासी हो; अमे अण गांव के निवासी हो, मे इस गोमरा रहेवासी छीअे।
(२) तेरा शुं नोम छे; तारुं क्या नाम है, थारुं शुं नोम है।
(३) मेरे माटे पोणी लाओ; मारा लिए पाणी लावो; मारे हारुं पानी लावो।
(४) उसे शुं करणो है; तेणे कंइ करना है; उणरे क्या करवुं छे।

अर्थ की दृष्टि से सही हो परंतु भाषिक दृष्टि से ये सब प्रयोग सही नहीं कहलाएंगे। आगम ग्रंथों की हस्तप्रतों में पाटान्तरों के जंगल को देखकर ही आगम प्रभाकर पू. मुनि श्री पुण्यविजयजी को 'कल्पसूत्र' की भूमिका में कहना पड़ा कि आगमों की अर्धमागधी भाषा खिचड़ी बन गयी है और मूल प्राचीन भाषा को खोज निकालना दुष्कर सा हो गया है। पू. महाप्रज्ञ युवाचार्यजी ने भी 'आगम सम्पादन की समस्याएं' में उचित ही कहा है कि यह सब (यानि पाटान्तरों का जंगल) हमारे प्रमाद के कारण ही हुआ है। इन अभिप्रायों से स्पष्ट है कि मूल प्राचीन भाषा की दृष्टि से आगमों के पुनः सम्पादन की आवश्यकता अभी भी बनी हुई ही है।

विषय की स्पष्टता के लिए प्राचीनतम आगमग्रंथ 'आचारांग' के विभिन्न संस्करणों में जो पाटान्तर मिलते हैं उनमें से कुछ शब्दों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

शब्द और संस्करणों के नाम
स्पष्टतया के लिए

सूत्र नं.	महावीर जैन विद्यालय, बम्बई	शुब्रिंग महोदय, जर्मनी	आगमोदय समिति महेसाणा	जैन विश्व भारती लाडनूं	हिन्दी अर्थ
१	अन्नतर	अन्नयर	अण्णयर	अण्णयर	अन्य कोई
१	णात	नाय	णाय	णात	ज्ञात
२	भवति	भवइ	भवति	भवइ	होता है
३	लोगावादी	लोगावाई	लोयावादी	लोगावाई	संसारवादी
७	भगवता	भगवया	भगवता	भगवया	भगवान के द्वारा
१३	अहिताए	अहियाए	अहिआए	अहिआए	अहितकारी
१४	उदर	उयर	उदर	उयर	पेट
२०	विजहित्ता	विजहित्तु	वियहित्ता	वियहित्तु	त्यागकर

दिल्ली

अलग अलग संस्करणों में ही पाठों की भिन्नता हो ऐसा ही नहीं है, एक ही संस्करण में एक ही शब्द के विभिन्न पाठ भी मिलते हैं। श्री महावीर जैन विद्यालय के 'आचारांग' के संस्करण के ही (ग्रंथ के अन्त में दी गयी शब्द-सूची के अनुसार) कुछ शब्द देखिए।

१. यथा (जिस प्रकार) = जहा, अहा
२. एकदा (एक बार) = एगदा, एगया
३. लोके (संसार में) = लोकंसि, लोगंसि, लोयंसि
४. क्षेत्रज्ञ (ज्ञानी) = खेत्तण्ण, खेतण्ण, खेयण्ण

हस्तप्रतों में तो पाटान्तर इतने अधिक प्रमाण में मिल रहे हैं कि आगम प्रभाकर पू. मुनि श्री पुण्यविजयजी (कल्पसूत्र की प्रस्तावना) को उसे पाटान्तरों का जंगल ही कहना पड़ा। इस बात को स्पष्ट करने के लिए खंभात, पाटन, पूना, जेसलमेर, अहमदाबाद आदि में मिल रही 'आचारांग' की ताडपत्र और कागज की हस्तप्रतों में से कुछ प्रतों में से कुछ शब्दों के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

पाठान्तरों के साथ

नं.	संस्कृत शब्द	हस्तप्रतों में उपलब्ध प्राकृत शब्द
१	यथा = जैसे	जधा, जहा, अधा, अहा
२	एकदा = एक बार	एकदा, एगदा, एगता, एगया
३	प्रवेदित = प्रतिपादित	पवेदित, पवेतित, पवेतिय (पवेइय)
४	लोके = संसार में	लोगस्सिं, लोकंसि, लोगंसि, लोयंसि, लोकम्मि, लोगंमि, लोयंमि
५	क्षेत्रज्ञ = ज्ञानी	खेत्तन्न, खेतन्न, खेदन्न, खेअन्न, खेयन्न, खेत्तण्ण, खेतण्ण, खित्तण्ण, खेदण्ण, खेअण्ण, खेयण्ण

आगमों से कुछ और शब्दों के पाटभेद देखिए :–
मेधावी, मेहावी; अहिताए, अहियाए; अबोधीए, अबोहीए; सदा, सता सया; अनितिय, अणिइय, अनिच्च, अणिच्च; नगर, णगर, नयर, णयर; अत्ता, आता, अप्पा, आया (आत्मा); भवितव्वं, भविदव्वं, भवियव्वं, इत्यादि।

इस प्रकार एक ही संस्करण में या अलग अलग संस्करणों में तथा विभिन्न हस्तप्रतों में कालक्रम से और क्षेत्रान्तर के कारण बदलती हुई प्रचलित भाषाओं के प्रभाव के कारण जाने-अनजाने या अपने ही प्रमाद के कारण भगवान महावीर के उपदेशों की मूल अर्धमागधी भाषा को सुरक्षित रखने की तरफ उपेक्षा भाव के कारण (उपलब्ध हो रहे संस्करणों में) भाषा का जो स्वरूप मिल रहा है वह प्राचीन अर्धमागधी के साथ सर्वत्र समानता नहीं रखता है।

मूल प्राचीन अर्धमागधी भाषा को प्रस्थापित करने के लिए अत्यन्त परिश्रम और धैर्य की आवश्यकता होगी। विभिन्न हस्तप्रतों में से भाषिक दृष्टि से प्राचीन

दिल्ली

पाटों को खोज निकालना होगा। यह कार्य किसी एक व्यक्ति का नहीं है परंतु किसी एक संस्था को यह कार्य उठा लेना चाहिए।

नीचे एक ही पाट के उत्तरवर्ती और प्राचीन प्रयोगों के कुछ उदाहरणों के साथ यह लेख समाप्त किया जाता है। नीचे नं. १ में मजैवि. का पाठ है और नं. २ में विविध हस्तप्रतों में मिलने वाले सम्बद्ध प्राचीन पाट दिये गये हैं।

(१) १. सुयं मे आउसं? तेणं भगवया एवं अक्खायं
२. सुतं मे आउसंते? णं भगवता एवं अक्खातं

(२) १. अत्थि मे आया उववाइए
२. अत्थि मे आता ओववादिए

(३) १. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया
२. तत्थ खलु भगवता परिन्ना पवेदिता

(४) १. तं से अहियाए, तं से अबोहीए
२. तं से अहिताए, तं से अबोधीए

इससे स्पष्ट है कि यदि भाषा की घुस-पैठ को निष्कासित करके प्राचीनता को स्थापित करना है तो भाषिक दृष्टि से अर्धमागधी के आगम ग्रंथों को पुनः सम्पादित किया जाना चाहिए और निश्चिन्त होकर यह भी समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार के सम्पादन से मूल अर्थ में कहीं पर भी अल्पांश में भी कोई अन्तर नहीं आएगा परंतु इससे तो हम उलटे अपने गणधरों की भाषा के निकट ही पहुंचेंगे। श्री महावीर जैन विद्यालय के संस्करण के साथ अन्य संस्करणों की तुलना करने पर उसमें इसी प्रकार की अंशतः भाषिक प्रगति सिद्ध होती है और अब इससे भी आगे बढ़ने की आवश्यकता है जो सर्वथा हस्तप्रतों के और आगमों के प्राचीन पाटों के आधार पर ही एक नवीन संस्करण तैयार होगा।

शुभकामनायें :

मै० वर्द्धमान डाईकास्टिंग इन्डस्ट्रीज

10, बैंक कॉलोनी, मैरिस रोड,
अलीगढ़ (उ० प्र०)-202001